आर्षभी विद्या : परिचय

म. विनयसागर

इस अवसर्पिणी के प्रथम नृपति, प्रथम अनगार, प्रथम केवली और प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव हुए । आवश्यकचूर्णि, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और कल्पसूत्र में इनके लिए 'अरहा कोसलिए उसभे' विशेषण प्राप्त होता है। भागवत पुराण में इन्हें महायोगिराट् कहा गया है ।

भगवान् ऋषभ जीवन-व्यवहार की समस्त कलाओं के प्रवर्तक माने गये हैं। वे वंशस्थापन, कृषि, कुम्भकार, पाककला, विवाह, लेखन, युद्ध, शस्त्र, राजनीति से लेकर मुनिवृत्ति और आत्मसाधना के मार्गदर्शक रहे हैं ।

प्रभु ऋषभ ने केवली बनने के पश्चात् क्या देशना दी थी ? किन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था ? समय का दीर्घकालीन व्यवधान होने के कारण उसका कोई स्वरूप प्राप्त नहीं होता है। हाँ, अहिंसादि सार्वभौम सिद्धान्तों का परिष्कृत स्वरूप अन्तिम तीर्थंकर महावीर की देशना/सिद्धान्तों में अवश्य लक्षित होता है ।

कहा जाता है कि ऋषभपुत्र भरतचक्री षट्खण्ड विजय कर स्वराज्य में लौटे तो चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया । कारण खोजने पर यह अनुमान किया गया कि 'षट्खण्ड विजय के पश्चात् भी स्वयं के ९९ लघुभ्राताओं ने अधीनता स्वीकार नहीं की है, वह अपेक्षित है।' भरत ने समस्त भाइयों के पास अधीनता स्वीकृति हेतु राजदूत भेजे । ९८ भाइयों ने विचार-विमर्श करने के पश्चात् अपने पिता ऋषभ से निर्देश प्राप्त करने हेतु उनकी सेवा में उपस्थित होकर समयानुरूप निर्णय देने का अनुरोध किया । प्रभु ऋषभ ने संसार और राज्यवैभव की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए उन्हें बोधमय देशना दी। इस देशना से प्रतिबुद्ध होकर ९८ भाइयों ने अपने पिता भगवान् के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण की । प्रभु ऋषभ की उक्त देशना द्वितीय अंग सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय वैतालीय नामक अध्ययन में भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है । भाषाविदों की दृष्टि से इस अंग की भाषा चौवीस सौ वर्ष प्राचीन है। इसी परम्परा में आदिनाथ-देशना (प्राकृत) और युगादि-देशना (संस्कृत) प्राप्त है ।

आर्षभी विद्या

विभु आदिनाथ प्ररूपित सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसका नाम है 'आर्षभी विद्या' । ग्रन्थकार ने इसका पूर्ण नाम दिया है 'अथर्वोपनिषत्सु विद्यातत्त्वे भारतीयोपदेशे' । इसके प्रथम अध्ययन सूत्र संख्या ४ में 'आर्षभाऽऽर्हतीं विद्यां' दिया है। आर्षभी अर्थात् ऋषभ की विद्या/देशना होने से यह नाम उपयुक्त भी है । लेखक ने इसे अथर्व का उपनिषत् लिखा है । इसका कारण यही प्रतीत होता है कि अर्वाचीन समस्त उपनिषत् अथर्व के अन्तर्गत ही आते हैं। ऋषभ भागवत परम्परा मान्य आठवें अवतार होने से उनकी तत्त्वमयी विद्या/उपदेश समस्त भारतीयों के लिए ग्राह्य/उपादेय हो इस दृष्टि से उपयुक्त ही है । किसी परम्परा का नाम न लेकर केवल 'भारतीय' शब्द का प्रयोग भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ।

ग्रन्थकार

इसके प्रणेता कौन हैं ? इसका इस ग्रन्थ में कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु इसके पंचमाध्याय के सूत्रांक एक में 'अथातो निगमस्थिति-सिद्धान्त-सिद्धोपमानां धर्मपथसार्थवाहानां युगप्रधानानां चरित्रकौशल्यं वर्णयामः' कहा है। इसमें उल्लिखित 'निगम' शब्द से कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में तपागच्छ में आचार्य इन्द्रनन्दिसूरि हुए हैं। विचारभेद के कारण इनसे निगम सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ । इसलिए इन्हें 'निगमाविर्भावक' विशेषण से सम्बोधित भी किया गया है। इन्द्रनन्दिसूरि श्रीलक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य थे। लक्ष्मीसागरसूरि का जन्म १४६४, दीक्षा १४७७, आचार्यपद १५०८ और गच्छनायक १५१७ में बने थे । अतः इन्द्रनन्दि का समय भी १६वीं शती के दो चरण अर्थात् १५०१ से १५५० के लगभग मान सकते हैं। यदि यह ग्रन्थ इन्हीं का माना जाय तो इस ग्रन्थ का रचना-काल भी १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही है । इनके इस प्रकार के कई ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं :-

१. भव्यजनभयापहार
२. पंचज्ञानवेदनोपनिषद्
३. भारतीयोपदेश
४. विद्यातत्त्व
५. निगम-स्तव
६. वेदान्त-स्तव
७. निगमागम

ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

प्रथम अध्याय - इस अध्याय में २६ गद्य सूत्र हैं। (१-२) प्रारम्भ में वृष शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है कि, वृषभदर्शन का अध्येता एवं आचारक चौदह गुणस्थानों का आरोहण करते हुए शाश्वत सिद्ध सुख को प्राप्त करता है, अतः 'आर्षभी आर्हती विद्या' की उपासना करो, जिससे दुरन्त मृत्यु पथ को पार कर जाओगे।

(३-५) सर्वप्रथम आत्मतत्त्व को पहचानो। कर्म निर्जरा के लिए तीन तत्त्व प्रधान हैं :- गुरुतत्त्व, देवतत्त्व, धर्मतत्त्व। इनमें प्रथम गुरुतत्त्व है। गुरुतत्त्व का वर्णन करते हुए लिखा है :- अपरिग्रही, निर्मम, आत्मतत्त्वविद्, छत्तीस गुणों से युक्त गुरु ही आराधनीय होता है।

(६) वह आर्षभायण रागादिनिवृत्त, गुणवान, गुरुनिर्देशपालक और द्वादशांगी विद्या का पारंगत होता है। ऐसे ही आराध्य गुरुतत्त्व की देशव्रतियों को उपासना करनी चाहिए। (७-८) श्रमणोपासक के लिए विविध विज्ञान, अतिशय श्रुत-अवधि, काल-ज्ञान वेत्ता युगप्रधान ही सेव्य है। (९) जो ईषत् द्वादशांगीवेत्ता हैं, क्षेत्र-कालोचित व्रतचर्या का पालन करते हैं, स्वधर्म सत्ता रूप सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, उन श्रमणों का उपदेश ही देशिकों को श्रवण करना चाहिए और आज्ञानुसार ही आचरण करना चाहिए। (१०-११) स्वात्मज्ञानविद् कोविद देशवृत्ति-परायण गुरुप्रासाद से ही संसार सागर से पार होते हैं, अतः आद्य गुरुतत्त्व ही कर्मनिर्जरा का कारण है। (११) इसीलिए भगवान आदिदेव ने कैवल्यप्राप्ति के पश्चात् वाचंयमों की मनःशुद्धि, जनोपकार और विश्वहित के लिए गुरुतत्त्व का प्रतिपादन किया है।

(१२) दुर्दमनीय मोह को जानकर देशवृत्ति-धारक कठोरतापूर्वक सर्वदा आचाम्ल तप करते हुए द्वादशांगी विद्या का श्रवण करे। (१३) संयतात्मा मुमुक्षु आवश्यक कर्म के पश्चात् पंचमुष्टि लुंचन कर, परिग्रह त्यागकर, गुरुकुल-निवासी होकर, आज्ञापालक होकर, निरवद्य भिक्षाग्रहण करते हुए अन्तेवासी बनकर द्वादशांगी का अध्ययन करे।

(१४) ३६ गुणधारक होते हुए भी अपक्व योगी मान्य नहीं होता है। पति की आज्ञा बिना मुमुक्षिणी को भी दीक्षा न दे। पति की आज्ञा से साध्वी बनाये।

(१५) कालचक्र की गति से महनीयतम संयमभार वहन करने में अक्षम होकर इस मार्ग का त्याग करेंगे। मृषोपदेश-कुशल आसुरायण द्विज वेदवाक्यों का विपरीत अर्थ कर गुरु बनेंगे। इससे श्रेष्ठ धर्म का नाश होगा।

(१६) तीर्थंकरों के अभाव में भी महादेव क्षेत्र (महाविदेह क्षेत्र) में यह द्वादशांगी अस्खलित रूप से दुरन्त कालग्लानि की निर्नाशिका बनी रहेगी। (१७) इस क्षेत्र में अन्तिम तीर्थंकर महावीर के पश्चात् २१ हजार वर्ष तक यह द्वादशांगी शनैःशनैः क्षीण होती जाएगी। अन्तिम केवली जंबू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् कालवेग के कारण मुक्तिद्वार बन्द हो जाएगा। (१८) आगामी चौवीसी के समय पुनः शुद्धमार्ग के प्ररूपक गुरु होंगे। अतः देशवृत्तियों को ऐसे गुरु की ही उपासना करनी चाहिए।

(१९) द्वादशांगीधारक शुद्ध-चारित्रिक गुरुओं के अभाव में पिप्पलाद आदि ऋषि श्रुतिवाक्यों के विपरीत अर्थ की प्रतिपादना करेंगे। (२०) चारित्र-परायणों के अभाव में शासन की दुर्दशा हो जाएगी।

(२२-२३) दैशिक एकादश प्रतिमा वहन करते हुए तपोयोग में प्रवृत्त हो और अर्हत् प्रतिमाओं की अर्चना करें।

(२४) साधुजन वर्षा के अभाव में भी एक स्थान पर चातुर्मास करें। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण हेतु पांच दिन तक पर्युषणा की आराधना करें। शुद्ध धर्म की आराधना करने वाले ही अर्हत् धर्म के अधिकारी होते हैं और वह ही विरजस्क होते हैं।

द्वितीय अध्याय - इसमें देव तत्त्व का वर्णन ३८ गद्य सूत्रों में है। श्रमणोपासक प्रातः सामायिक करें, दोषों के परिहार निमित्त प्रतिक्रमण करें। नित्य नैमित्तिक कार्य के पश्चात् चैत्यवन्दन करें।

जिनपूजन की पद्धति बतलाते हुए कहा है :- चन्दनचूर्ण से पूजन कर पंच परमेष्ठियों के गुणों का चिंतन करते हुए भावस्तवना कर नमन करें। शाश्वत

चैत्यों को नमन करें । अष्टापद तीर्थस्थित ऋषभादि वर्धमान चौवीस तीर्थंकरों को साष्टांग नमस्कार करें । (१४) अतीत, वर्तमान और अनागत अर्हतों, केवलियों, सिद्धों और भरत, ऐरवत, महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान साधुओं को नमस्कार करें ।

देवार्चन हेतु स्नानादि कर शुद्ध धोती पहनकर, शुद्ध उत्तरीय वस्त्र धारण कर गृहचैत्य में दक्षिण चरण से प्रवेश करें । (२०) मन्दिर में प्रवेश कर धरणेन्द्र आदि सेवित पार्श्व प्रतिमा का, एकाग्र मन से निरीक्षण करें । (२१) प्रतिमा का मोरपिच्छी से सम्मार्जन करें । परिकर युक्त प्रतिमा को चंदन मिश्रित जल से स्नपित करें । घृत दीप जलाकर चन्दन का विलेपन करें । अलंकारादि से विभूषित करें । पुष्प पूजा करें । गीत गान करें । सुगंधित धूप करने के पश्चात् आरती उतारें । तदनंतर घण्टा बजायें और विविध वादित्रों के साथ संगीतमय प्रभु की स्तुति करें और प्रभु के समक्ष नृत्य करें । मन्दिर से निकलते समय द्वार पर याचकों को दान देकर घर आयें और स्वधर्मी बन्धुओं के साथ अतिथि संविभाग का पालन करते हुए निरवद्य आहार करें ।

(३०) मंगल चैत्य पर्युपासना रूप धर्म के समान अन्य कोई सुकृत नहीं है । नवम पूर्व में भी इसे ही सुधर्म बतलाया है ।

(३१) केवली भगवंत सिद्धान्तों में चार महामंगल कहते हैं - अरहंत, सिद्ध, साधु और अर्हत धर्म का शरण स्वीकार करे । इन चारों महामंगलों का छठे पूर्व में वर्णन प्राप्त है ।

(३३) देशविरति द्रव्य तथा भाव पूजा करे और संयमी केवल भाव पूजा करें ।

बादरायण, ऋषि कूप, अर्बुदगिरि और अष्टापदादि स्थानों में ध्यान-साधना करने पर साधक विरज और तमरहित होता है । (३७) शुद्ध सम्यक्त्वधारी इस देवतत्त्व की आराधना कर धार्मिक होकर वीतराग बनता है ।

तृतीय अध्याय - तृतीय अध्याय में १६ गद्य सूत्र हैं जिनमें देशव्रतधारियों के व्रतों का विवेचन है । सम्यक्त्व धारण करने वाला उपासक बारह व्रतों को ग्रहण करता है । निरतिचारपूर्वक व्रतों का पालन करते हुए अन्तिमावस्था में निर्जरा हेतु उपासक की ११ प्रतिमाओं को वहन करता है ।

इन एकादश प्रतिमाओं का विवेचन उपासकदशा सूत्र में वर्णित का ही इसमें विस्तार से निदर्शन है । अन्त में लिखा है कि ११वीं प्रतिमाधारक गृही भी मुक्ति पद को प्राप्त करता है । १२वीं प्रतिमा तो युगप्रधान योगी पुरुष ही वहन करते हैं ।

चतुर्थ अध्याय - इस अध्याय में जीव के बन्ध-मोक्ष का विवेचन करते हुए ग्रन्थिभेद के पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर सयोगी केवली एवं अयोगी केवली पर्यन्त का विस्तृत वर्णन है । यह सारा वर्णन पूर्वाचार्यों द्वारा रचित साहित्य में प्राप्त होता ही है । इसमें सयोगी केवली को जीवनमुक्त चारित्रयोगी शब्द से भी अभिहित किया है ।

पाँचवां अध्याय - यह नव गद्य सूत्रों में है । इसमें कहा गया है कि तीर्थंकरों एवं केवलियों के अभाव में सर्वज्ञकल्प श्रुतकेवली युगप्रधान ही धर्मपथ का संचालन करता है । महावीर के २१ हजार वर्ष के शासन में सुधर्म-स्वामीजी से लेकर दुप्पसह पर्यन्त दो हजार चार युगप्रधानाचार्य होंगे । तत्पश्चात् धर्म की महती हानि होगी और इसी बीच अविद्या और असत्य का बोल-बाला होगा । तत्पश्चात् आगामी उत्सर्पिणी में पद्मनाभ तीर्थंकर होंगे । उनके समय में पुनः सुसाधु होंगे जो शास्त्र-सम्मत साध्वाचार का पालन करेंगे । ३६ गुण युक्त होंगे । ४७ दोष रहित आहार ग्रहण करेंगे और युगप्रधान पद को धारण करने वाले सर्वज्ञ तुल्य होंगे । (४)

भगवान् महावीर के कुछ समय पश्चात् केवलियों का अभाव होने से परिहार-विशुद्धि आदि चारित्रों का अभाव हो जाएगा । श्रुत ज्ञान की क्रमशः क्षीणता को देखकर आर्य धर्म की रक्षा हेतु युगप्रधान आर्यरक्षित चारों अनुयोगों को पृथक्-पृथक् करेंगे । कई महामुनि सिन्धु-गंगा के मध्य भाग को छोड़कर अन्य दिशा-विदिशाओं में चले जायेंगे और पुनः इधर नहीं आयेंगे । सिन्धु-गंगा के मध्य में रहने वाले श्रुतधर आचार्य महान् तपश्चर्या करेंगे और धर्मोद्योत करेंगे । कषायवैरि मुनिगणों से चान्द्रकुल का आविर्भाव होगा । श्रमणोपासकों को ऐसे ही युगप्रधान, श्रुत, कोविद आचार्यों की उपासना करनी चाहिए । द्वादशांगी आदि विद्याओं को जानकर जो इसके अनुसार आचरण करते हैं वे विद्वान् विरक्ततम होकर सुधासागर को प्राप्त करते हैं ।

भाषा और शैली – इसकी भाषा संस्कृत ही है। यत्र तत्र वैदिक संस्कृत के भी शब्दों के दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ की प्राचीनता प्रमाणित करने हेतु रचनाकार ने इसकी शैली उपनिषद् की शैली रखी है, जैसे– ''अथातः संप्रपद्येम, पूर्व ह वा तैः, इति श्रुतेः, ये च ह वा, स शिखा सूत्रवता, न तस्मिन् धर्मे स्वाधिकारिणो धर्मद्रुहः, न द्वेषकद्विट्, सकलं भद्रमश्नुते जायेव पत्युः' आदि।

निष्कर्ष–

१. इस ऋषभ वाणी में सर्वत्र यही उल्लेख प्राप्त होता है कि भगवान् ऋषभ ने ऐसा कहा है। यहाँ इस ऋषभवाणी में कोई नया दार्शनिक चिन्तन या कोई विशिष्ट बात का अंकन नहीं है, जो है सो वह भगवान् महावीर की परम्परा में प्रतिपादित और पूर्वाचार्यों द्वारा प्ररूपित देव–गुरु–धर्म तत्त्व का ही विवेचन है। हाँ, यहाँ यह वैशिष्ट्य अवश्य प्राप्त होता है कि तत्त्वों में देव के स्थान पर प्रथम गुरुतत्त्व का विवेचन है। गुरुतत्त्व में सद्गुरु लक्षण, देवतत्त्व में वीतराग देव का लक्षण और प्रतिमा पूजन एवं धर्म तत्त्व में नवतत्त्व, अणुव्रत, महाव्रत और गुणस्थान का विवेचन है। श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन उपासकदशा सूत्र और गुणस्थानों का वर्णन कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों से विवेचित है। पंचम अध्याय में जो भगवान् के श्रीमुख से भविष्यवाणी ही करवा दी है, जिसमें अन्तिम तीर्थंकर महावीर, पंचम आरक और उसका स्वरूप, आगामी उत्सर्पिणी में पद्मनाभ तीर्थंकर, जम्बू के पश्चात् मोक्षद्वार बन्द, २००४ युगप्रधान, अन्तिम आचार्य दुप्पसह, चान्द्रकुल और आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगों का पृथक्करण आदि का उल्लेख भी हो गया है। यह समग्र वर्णन तीर्थोद्गालिकप्रकीर्णक एवं व्यवच्छेदगण्डिका में प्राप्त होता है।

२. इस ग्रन्थ में लेखक के नाम का कहीं भी उल्लेख न होने पर भी 'निगम' शब्द से हमने लेखक का नाम इन्द्रनन्दिसूरि की सम्भावना की है। लेखक ने नामोल्लेख न कर, इसे अथर्व का उपनिषद् कहकर, उपनिषद् शैली के अनुकरण पर रचना की है। स्थान–स्थान पर श्रुति का उल्लेख कर और महावीर शासन के सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी और आर्यरक्षितसूरि को छोड़कर किसी भी प्रभावक युगप्रधान आचार्य का नामोल्लेख न कर इसे प्राचीनतम –

७, ८वीं सदी की रचना प्रमाणित करने का प्रयत्न अवश्य किया है। किन्तु, द्वितीय अध्याय में प्रतिमार्चन में वस्त्राभूषणों का उल्लेख कर स्वतः ही सिद्ध कर दिया है कि यह रचना प्राचीन न होकर १५वीं, १६वीं सदी की है।

३. ग्रन्थ का अवलोकन करने पर यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि इसका लेखक पारंगत विद्वान् ब्राह्मण होगा। बाद में जैन मुनि/आचार्य बनकर जैन दर्शन का भी प्रौढ़ विद्वान् बना। आगम-निगम, द्वादशांगी को श्रुति, देवतत्त्व की अपेक्षा गुरुतत्त्व का प्रथम प्रतिपादन, पिप्पलाद-आसुरायण आदि ऋषियों का उल्लेख, ध्यान केन्द्रों के लिए बादरायण, ऋषि कूप, भार्गव कूप, अर्बुद आदि का उल्लेख, गुरुकुल निवासी, आर्यधर्म, सयोगी केवली को जीवनमुक्त-चारित्र योगी, महाविदेह क्षेत्र को महादेव क्षेत्र और औपनिषदिक विज्ञानघन, विरजस्क, वितमस्क, साष्टांग आदि शताधिक शब्दों के प्रयोग इसके प्रमाण में रखे जा सकते हैं।

४. अध्याय एक में सांवत्सरिक प्रतिक्रमण हेतु पंच दिवसीय पर्युषण पर्व आराधना करने का उल्लेख है। जबकि पर्युषणा पर्व आठ दिवस का माना गया है। सम्भव है इस आचार्य की निगम परम्परा में पर्युषण पांच दिन का ही होता होगा।

५. मौलिक चिन्तन न होते हुए भी उपनिषद् शैली में ग्रथित 'आर्षभी विद्या' मौलिक ग्रन्थ है। अद्यावधि इसकी एक मात्र प्रति ही उपलब्ध है जो खण्डित और अशुद्ध भी है। अतः इसके खण्डित पाठों की पूर्ति कर एवं संशोधन कर इसका प्रकाशन अवश्य किया जाना चाहिए।

प्रति परिचय :

यह ग्रन्थ अद्यावधि अमुद्रित है। इसकी एक मात्र दुर्लभ हस्तलिखित प्रति राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के क्षेत्रीय कार्यालय, जयपुर के श्रीपूज्य श्रीजिनधरणेन्द्रसूरि संग्रह में परिग्रहणांक ७९७२ पर सुरक्षित है। साईज ३१.७ x १२.७ से.मी. है। पत्र सं० १०, पंक्ति १७, अक्षर ६० है। लेखन अशुद्ध है। किनारे खण्डित होने से पाठ खण्डित हो गये हैं। प्रान्त पुष्पिका में लेखन संवत् इस प्रकार दिया है :- 'श्रीपत्तने सं० १५५४ वर्षे ॥ शुभमस्तु ॥'

— C/o. प्राकृत भारती, जयपुर